

Chapter बारह

वैराग्य तथा ज्ञान से आगे

इस अध्याय में वृन्दावनवासियों की पवित्र संगति तथा उनके शुद्ध प्रेम की सर्वोत्कृष्टता की महिमा का वर्णन हुआ है।

सन्त-भक्तों की संगति से भौतिक जीवन के प्रति आत्मा की अनुरक्ति नष्ट होती है और इससे भगवान् कृष्ण तक वश में हो जाते हैं। न तो योग, सांख्य दर्शन, सामान्य धार्मिक कृत्य, शास्त्रों का अध्ययन, तपस्या, त्याग, इष्टा तथा पूर्तम् के कार्य, दान, उपवास, अर्चापूजा, गुप्त मंत्र, तीर्थस्थानों का भ्रमण, न ही बड़े या छोटे विधि-विधानों के पालन से ऐसा फल मिल सकता है। प्रत्येक युग में असुर, दैत्य, पक्षी तथा पशु होते रहे हैं, जो रजो तथा तमोगुणी थे और मनुष्यों में भी व्यापारी, स्त्रियाँ, मजदूर तथा अछूत श्रेणी के लोग थे, जो वैदिक शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकते थे। तो भी भक्तों की संगति के शुद्धीकरण प्रभाव से वे सभी भगवद्धाम प्राप्त कर सके। किन्तु ऐसी साधु-संगति के बिना योग,

सांख्य अध्ययन, दान, व्रत तथा संन्यास-आश्रम में उद्यमशील लोग भगवान् को पाने में असमर्थ रहते हैं।

व्रज की तरुणियाँ, भगवान् कृष्णचन्द्र के असली स्वरूप से अज्ञानी रहने के कारण, उन्हें अपना आनन्ददाता जारपति मानती थीं। फिर भी श्रीकृष्ण के साथ अपनी निरन्तर संगति के कारण वे परम-पूर्ण सत्य प्राप्त कर सकीं, जिसे ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवता तक प्राप्त नहीं कर पाते। वृन्दावन की तरुणियों ने भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ अनुराग प्रदर्शित किया, जिससे उनके साथ होने के आनन्द से अभिभूत उनके मन उनके साथ बिताई गई सारी रात को एक क्षण का भी अंश मानती थीं। किन्तु जब अक्रूर श्रीकृष्ण को बलराम समेत मथुरा ले गये, तो गोपियों ने उनके बिना प्रत्येक रात्रि को देवताओं के कल्प के समान बिताया। भगवान् कृष्ण के बिछोह से पीड़ित वे यह कल्पना न कर सकीं कि उनकी वापसी के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उन्हें सन्तोष प्रदान कर सकती है। यह ईश्वर के प्रति गोपियों के शुद्ध प्रेम की अद्वितीय श्रेष्ठता है।

उद्धव को ये उपदेश दे चुकने के बाद श्रीकृष्ण ने उद्धव को यह सलाह दी कि परम सत्य प्राप्त करने के लिए श्रुतियों तथा स्मृतियों में बताये गये धर्म-अधर्म के सारे विचारों को त्यागकर, वे वृन्दावन की स्त्रियों की तरह शरण ग्रहण करें।

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्ट्रापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।

यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न रोधयति—निर्यत्रित नहीं करता; माम्—मुझको; योगः—अष्टांग योग पद्धति; न—न तो; साङ्ख्यम्—भौतिक तत्त्वों का वैश्लेषिक अध्ययन; धर्मः—अहिंसा जैसी सामान्य करुणा; एव—निस्सन्देह; च—भी; न—न तो; स्वाध्यायः—वेदों का उच्चारण; तपः—तपस्या; त्यागः—संन्यास-आश्रम; न—न तो; इष्टा-पूर्तम्—यज्ञ करना तथा कुएँ खुदवाना या वृक्ष लगाना जैसे आम जनता के कल्याण-कार्य; न—न तो; दक्षिणा—दान; व्रतानि—व्रत रखना तथा एकादशी का उपवास; यज्ञः—देवताओं की पूजा; छन्दांसि—गुह्य मंत्रों का उच्चारण; तीर्थानि—तीर्थस्थानों का भ्रमण; नियमाः—आध्यात्मिक जीवन के लिए मुख्य आदेशों का पालन करना; यमाः—तथा गौण-विधान भी; यथा—जिस तरह; अवरुन्धे—अपने वश में करता है; सत्-सङ्गः—मेरे भक्तों की संगति; सर्व—समस्त; सङ्ग—भौतिक संगति; अपहः—हटाने वाला; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरे शुद्ध भक्तों की संगति करने से इन्द्रियतृप्ति के सारे पदार्थों के प्रति आसक्ति को नष्ट किया जा सकता है। शुद्धि करने वाली ऐसी संगति मुझे मेरे भक्त के वश में कर देती है। कोई चाहे अष्टांग योग करे, प्रकृति के तत्त्वों का दार्शनिक विश्लेषण करने में लगा रहे, चाहे अहिंसा तथा शुद्धता के अन्य सिद्धान्तों का अभ्यास करे, वेदोच्चार करे, तपस्या करे, संन्यास ग्रहण करे, कुँआ खुदवाने, वृक्ष लगवाने तथा जनता के अन्य कल्याण-कार्यों को सम्पन्न करे, चाहे दान दे, कठिन व्रत करे, देवताओं की पूजा करे, गुह्य मंत्रों का उच्चारण करे, तीर्थस्थानों में जाय या छोटे-बड़े अनुशासनात्मक आदेशों को स्वीकार करे, किन्तु इन सब कार्यों को सम्पन्न करके भी कोई मुझे अपने वश में नहीं कर सकता।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों पर श्रील जीव गोस्वामी की टीका का सारांश इस प्रकार है कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों की औपचारिक पूजा द्वारा अथवा संगति करके उनकी सेवा कर सकता है। शुद्ध भक्तों की संगति आत्म-साक्षात्कार के लिए पर्याप्त है, क्योंकि ऐसे भक्तों से आध्यात्मिक प्रगति के विषय में हर बात सीखी जा सकती है। पूर्ण ज्ञान होने पर मनुष्य की मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया से भगवान् का आशीर्वाद तुरन्त प्राप्त होता है। शुद्ध भक्ति प्रकृति के गुणों से परे है, अतएव इन गुणों द्वारा बद्ध किये गये आत्माओं को यह रहस्यमय प्रतीत होती है।

पिछले अध्याय में भगवान् ने कहा है *हविषाग्नौ यजेत माम्* घी की आहुति देकर मनुष्य अग्नि में मेरी पूजा कर सकता है (भागवत ११.११.४३)। पिछले अध्याय के श्लोक ३८ में यह उल्लेख हुआ है कि मनुष्यों को बाग-बगीचे, मनोरंजन स्थल, उद्यान, इत्यादि बनवाने चाहिए। इनसे लोग कृष्ण-मन्दिरों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जहाँ पर वे भगवन्नाम का कीर्तन कर सकते हैं। ऐसी निर्माण योजनाओं को *पूर्तम्* कहा जाता है। यद्यपि इन दोनों श्लोकों में भगवान् कृष्ण यह उल्लेख करते हैं कि उनके शुद्ध भक्तों की संगति योग, दार्शनिक चिन्तन, यज्ञ तथा जन-कल्याण-कार्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली है, किन्तु ये गौण कार्य भी भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने वाले हैं, यद्यपि कुछ कम मात्रा में। ये कार्य विशेष रूप से तब भगवान् को प्रसन्न करने वाले होते हैं जब सामान्य भौतिकतावादी लोगों द्वारा सम्पन्न न होकर भक्तों द्वारा किये जाते हैं। इसीलिए *यथा* तुलनात्मक शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों में, यज्ञ, तप तथा दार्शनिक अध्ययन जैसे कार्य मनुष्य को भक्ति करने के योग्य बना सकते

हैं और जब ऐसे कार्य आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक भक्तों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, तो वे भगवान् को अच्छे लगते हैं।

व्रतानि के उदाहरण अध्ययन किया जा सकता है। यह आदेश कि मनुष्य एकादशी व्रत समस्त वैष्णवों के लिए स्थायी व्रत है, अतः इन श्लोकों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि एकादशी व्रत की उपेक्षा की जा सकती है। भगवत्प्रेम का फल प्रदान करने में सत्संग की श्रेष्ठता का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि अन्य विधियों का परित्याग कर दिया जाय या कि ये गौण विधियाँ भक्तियोग के स्थायी कारक नहीं हैं। ऐसे अनेक वैदिक आदेश हैं, जो अग्निहोत्र यज्ञ करने का उपदेश देते हैं तथा चैतन्य महाप्रभु के आधुनिक अनुयायी भी कभी कभी अग्निहोत्र यज्ञ करते हैं। ऐसे यज्ञ की संस्तुति स्वयं भगवान् ने पिछले अध्याय में की है अतएव भगवद्भक्तों को इसका परित्याग नहीं करना चाहिए। वैदिक अनुष्ठान तथा शुद्धि-अनुष्ठान करने से मनुष्य क्रमशः भक्ति-पद तक ऊपर उठता है, जहाँ वह परम सत्य की प्रत्यक्ष पूजा कर सकता है। एक वैदिक आदेश है “छः विभिन्न अवसरों पर एक एक मास का लगातार उपवास करने से जो फल प्राप्त होता है, वह भगवान् विष्णु को अर्पित मुट्ठी-भर चावल से मिल सकता है। यह सुविधा कलियुग में विशेष रूप से उपलब्ध है।” तो भी एकादशी पर नियमित व्रत रखना आध्यात्मिक प्रगति में बाधक नहीं है। प्रत्युत भक्ति का यह शाश्वत पक्ष है और इसे भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों के पूजन के मुख्य सिद्धान्त का सहायक सिद्धान्त माना जा सकता है। चूँकि ऐसे गौण सिद्धान्तों से मनुष्य प्रारम्भिक भक्ति-विधियाँ पूरी करने के योग्य बनता है, अतएव वे भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इसीलिए ऐसे गौण सिद्धान्तों का उल्लेख पूरे वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐसे गौण सिद्धान्त कृष्णभावनामृत की प्रगति के लिए अनिवार्य हैं, अतएव मनुष्य को व्रत का परित्याग नहीं करना चाहिए।

पिछले अध्याय (भागवत ११.११.३२) में श्रील श्रीधर स्वामी ने उल्लेख किया है कि *आज्ञायैवं गुणान् दोषान्* से यह सूचित होता है कि भक्त को चाहिए कि ऐसे वैदिक सिद्धान्तों का चुनाव करे, जिनका भगवद्भक्ति से कोई विरोध नहीं है। उपवास, देवपूजा तथा योगाभ्यास की अनेक जटिल विधियाँ तथा विस्तृत वैदिक अनुष्ठान *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की विधि में बाधा उत्पन्न करते हैं, इसलिए वैष्णवजन उनका वहिष्कार करते हैं। किन्तु जो विधियाँ भक्ति में सहायक हों, उन्हें स्वीकार करना

चाहिए। यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण दिया जा सकता है, जिन्हें मृत्यु-शय्या पर लेटे भीष्मदेव ने उपदेश दिया। *श्रीमद्भागवत* (१.९.२७) में भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को दान-धर्म, राज-धर्म, मोक्ष-धर्म, स्त्री-धर्म तथा भागवत्-धर्म की शिक्षा दी। भीष्म ने अपना विवेचन *भागवत धर्म* तक ही सीमित नहीं रखा, क्योंकि कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को राजा रूप में कार्य करने की भक्ति प्रदान की और इस सेवा को सम्पन्न करने के लिए महाराज युधिष्ठिर को नागरिक मामलों का विस्तृत ज्ञान आवश्यक था। किन्तु जो व्यक्ति समाज में ऐसी नियत भक्ति का सम्पादन नहीं करता है, उसे अनावश्यक रूप से भौतिक जगत में हाथ नहीं डालना चाहिए। भगवान् कृष्ण को तुष्ट करने के चरम उद्देश्य से उसे कोई रोक नहीं सकता।

नियत व्रतों को न त्यागने के सिद्धान्तों को महाराज अम्बरीष के उदाहरण से भी दर्शाया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के नवें स्कन्ध में हम पाते हैं कि यद्यपि महाराज अम्बरीष ने विस्तृत वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये थे, किन्तु उनका उद्देश्य भगवान् को सदैव तुष्ट रखना था। उनके राज्य के नागरिक स्वर्ग नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि वे वैकुण्ठ की महिमा का श्रवण निरन्तर करते थे। अम्बरीष महाराज ने अपनी महारानी समेत एक वर्ष तक एकादशी तथा द्वादशी का व्रत रखा। चूँकि अम्बरीष महाराज को वैष्णवों का शिरोमणि माना जाता है और चूँकि उनका आचरण आदर्शमय था, अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि एकादशी पर उपवास रखने जैसे व्रत वैष्णवों के लिए अनिवार्य हैं। वैदिक वाङ्मय में यह भी कहा गया है “यदि लापरवाही से कोई वैष्णव एकादशी पर व्रत नहीं रखता, तो उसकी भगवान् विष्णु की पूजा व्यर्थ रहती है और वह नरक को जाता है।” इस्कॉन के सदस्यों को एकादशी के दिन अन्न तथा फलियाँ नहीं खानी चाहिए और सारे सदस्यों को यह व्रत सदा रखना चाहिए।

यदि कोई मिथ्या ही यह सोचता है कि वह महान् तपस्या, संस्कृत साहित्य के प्रखर अध्ययन, दान के वदान्य कर्मों द्वारा भगवान् कृष्ण की संगति प्राप्त कर सकता है, तो उसकी कृष्ण-चेतना विरूपित होकर क्षीण हो जायेगी। मनुष्य को चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु के उदाहरण को याद रखे, जिन्होंने भगवान् कृष्ण के विषय में निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन द्वारा कृष्णभावनामृत का अभ्यास किया। यदि कोई व्यक्ति उपवास, अध्ययन, तपस्या, अथवा यज्ञ द्वारा चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन में भाग लेने के लिए अधिक उपयुक्त बनता है, तो ऐसे कार्य भी भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने वाले होते हैं।

किन्तु यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि भक्तियोग में ऐसे कार्य कभी भी केन्द्रीय महत्त्व के नहीं बन सकते। उन्हें सत्संग की परम विधि के सहायक के रूप में ही रहना पड़ेगा। श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक साहित्य से उद्धरण दिया है कि यदि कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों का अपमान करता है और उनकी संगति करना नहीं सीखता, तो भगवान् विष्णु ऐसे व्यक्ति के मार्ग में विघ्न डालते हैं, जिससे वह भगवान् की संगति प्राप्त न कर पाये।

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
 गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥
 विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
 रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिस्तस्मिन्युगे युगे ॥ ४ ॥
 बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
 वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥
 सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
 व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सत्-सङ्गेन—मेरे भक्तों की संगति से; हि—निश्चय ही; दैतेयाः—दिति के पुत्र; यातुधानाः—असुरगण; मृगाः—पशु; खगाः—पक्षी; गन्धर्व—गन्धर्वगण; अप्सरसः—स्वर्गलोक की वेश्याएँ; नागाः—सर्प; सिद्धाः—सिद्धलोक के वासी; चारण—चारण; गुह्यकाः—गुह्यक; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; मनुष्येषु—मनुष्यों में से; वैश्याः—व्यापारी लोग; शूद्राः—श्रमिक; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अन्त्य-जाः—असभ्य लोग; रजः-तमः-प्रकृतयः—रजो तथा तमोगुणों से बँधे हुए; तस्मिन् तस्मिन्—उसी उसी प्रत्येक में; युगे युगे—युग में; बहवः—अनेक जीव; मत्—मेरे; पदम्—धाम को; प्राप्ताः—प्राप्त हुए; त्वाष्ट्र—वृत्रासुर; कायाधव—प्रह्लाद महाराज; आदयः—इत्यादि; वृषपर्वा—वृषपर्वा नामक; बलिः—बलि महाराज; बाणः—बाणासुर; मयः—मय दानव; च—भी; अथ—इस प्रकार; विभीषणः—रावण का भाई विभीषण; सुग्रीवः—वानरराज सुग्रीव; हनुमान्—महान् भक्त हनुमान; ऋक्षः—जाम्बवान्; गजः—गजेन्द्र नामक भक्त हाथी; गृध्रः—जटायु गृध्र; वणिक्पथः—तुलाधार नामक बनिया; व्याधः—धर्म व्याध; कुब्जा—कुब्जा नामक वेश्या, जिसकी रक्षा कृष्ण ने की; व्रजे—वृन्दावन में; गोप्यः—गोपियाँ; यज्ञ-पत्न्यः—यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की पत्नियाँ; तथा—उसी प्रकार; अपरे—अन्य।

प्रत्येक युग में रजो तथा तमोगुण में फँसे अनेक जीवों ने मेरे भक्तों की संगति प्राप्त की। इस प्रकार दैत्य, राक्षस, पक्षी, पशु, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक तथा विद्याधर जैसे जीवों के साथ साथ वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ तथा अन्य निम्न श्रेणी के मनुष्य मेरे धाम को प्राप्त कर सके। वृत्रासुर, प्रह्लाद महाराज तथा उन जैसे अन्यों ने मेरे भक्तों की संगति के द्वारा मेरे धाम को प्राप्त किया। इसी तरह वृषपर्वा, बलि महाराज, बाणासुर, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार, धर्मव्याध, कुब्जा, वृन्दावन की गोपियाँ तथा यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों की पत्नियाँ भी मेरा धाम प्राप्त कर सकीं।

तात्पर्य : भगवान् ने यह दिखाने के लिए कि किस तरह वे अपने शरणागतों के वश में होते हैं, वृन्दावन की गोपियों जैसे भक्तों तथा बाणासुर जैसे असुरों का उल्लेख किया है। यह ज्ञात है कि यहाँ पर उल्लिखित गोपियों तथा अन्य भक्तों को शुद्ध कृष्ण-प्रेम प्राप्त हुआ था, जबकि असुरों को केवल मोक्ष प्राप्त हुआ था। कई असुर भगवद्भक्तों की संगति से शुद्ध हुए थे और अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों में भगवान् की भक्ति को स्वीकार किया था। किन्तु प्रह्लाद तथा बलि महाराज जैसे महान् भक्त भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते और इसे ही वे अपने प्राण के तुल्य मानते हैं। फिर भी सुधरे हुए असुरों का भी उल्लेख किया गया है, जिससे *श्रीमद्भागवत* के पाठक भगवद्भक्तों की संगति से मिलने वाले अपार लाभ को समझ सकें।

वृत्रासुर असुर अपने पूर्वजन्म में पवित्र राजा चित्रकेतु था और उसने श्री नारद मुनि, श्री अंगिरा मुनि तथा भगवान् संकर्षण का सान्निध्य प्राप्त किया था। हिरण्यकशिपु के पुत्र होने से प्रह्लाद महाराज दैत्य समझे जाते हैं। फिर भी जब वे अपनी माता कयाधू के गर्भ में थे, तो उन्हें ध्वनि के माध्यम से नारद मुनि की संगति प्राप्त हुई थी। वृषपर्वा असुर को उसकी माता ने जन्म देते ही त्याग दिया था। किन्तु वह किसी मुनि द्वारा पाला जाकर भगवान् विष्णु का भक्त बना। बलि महाराज ने अपने पितामह प्रह्लाद महाराज की तथा भगवान् वामन देव की भी संगति प्राप्त की थी। बलि महाराज का पुत्र बाणासुर अपने पिता तथा शिवजी की संगति से रक्षा प्राप्त कर सका। वह भगवान् कृष्ण की संगति में भी आया, जब उन्होंने उसके एक हजार हाथों में से दो को छोड़कर शेष हाथ काट दिये, जिन्हें शिवजी ने वर के रूप में प्रदान किया था। भगवान् कृष्ण की महिमा समझ लेने पर बाणासुर भी महान् भक्त बन गया। मय दानव ने पाण्डवों के लिए सभाभवन तैयार किया और भगवान् कृष्ण की संगति में भी आया और अन्त में भगवान् की शरण ग्रहण की। विभीषण रावण का भाई था और पवित्र स्वभाव का असुर था। उसने हनुमान तथा रामचन्द्र की संगति की।

सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान तथा गजेन्द्र ऐसे पशुओं के उदाहरण हैं, जिन्होंने भगवान् की कृपा प्राप्त की। जाम्बवान् या ऋक्षराज एक वानर जाति का सदस्य था। उसे भगवान् कृष्ण की संगति तब प्राप्त हुई थी जब उसने स्यमंतक मणि के लिए उनसे युद्ध किया था। गजेन्द्र हाथी ने अपने पूर्व जीवन में भक्तों की संगति की थी और अपने इस जीवन के अन्त में भगवान् द्वारा बचाया गया था। जटायु पक्षी ने,

जिसने अपना प्राण देकर भगवान् रामचन्द्र की सहायता की, श्री गरुड़ तथा महाराज दशरथ और रामलीला में अन्य भक्तों की भी सहायता की थी। उसने सीता तथा रामचन्द्र से भेंट की थी। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सिद्धों, चारणों, गुह्यकों तथा विद्याधरों ने भक्तों से जिस तरह की संगति की वह बहुत प्रमुख न थी, इसलिए उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। वणिकपथ एक वैश्य है, जिसकी कथा महाभारत में जाजलि मुनि के अभिमान के प्रसंग में उल्लिखित है।

धर्मव्याध, एक अहिंसक व्याध, की कथा वराह पुराण में वर्णित है, जिसमें भक्तों की संगति की महत्ता बताई गई है। अपने पूर्व जीवन में वह ब्रह्म राक्षस बन गया था, किन्तु अन्त में उसका उद्धार हो गया। पूर्व कलियुग में उसकी संगति वासु नामक वैष्णव राजा से हुई थी। कुब्जा को भगवान् की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त हुई। वह अपने पूर्वजन्म में श्री नारद मुनि के सान्निध्य में थी। वृन्दावन की गोपियों ने अपने पूर्वजन्मों में साधु-पुरुषों की सेवाएँ की थीं। भक्तों के साथ प्रचुर संगति के फलरूप वे अगले जन्म में वृन्दावन में गोपियाँ बनीं और वहाँ पर अवतरित मुक्त गोपियों की संगति में आईं। उनकी संगति तुलसी देवी या वृन्दा देवी से भी थीं। यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की पत्नियों को कृष्ण द्वारा भेजी गई फूल-माला तथा सुपारी बेचने वाली स्त्रियों की संगति प्राप्त हुई थी, जिनसे उन्होंने भगवान् कृष्ण के विषय में सुना था।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।

अव्रतातप्ततपसः मत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; न—नहीं; अधीत—अध्ययन करके; श्रुति-गणाः—वैदिक वाङ्मय; न—नहीं; उपासित—पूजा किया हुआ; महत्-तमः—महान् सन्त; अव्रत—व्रत के बिना; अतप्त—बिना किये; तपसः—तपस्या; मत्-सङ्गात्—मेरे तथा मेरे भक्तों की संगति से; माम्—मुझे; उपागताः—उन्होंने प्राप्त किया।

मैंने जिन व्यक्तियों का उल्लेख किया है, उन्होंने न तो वैदिक वाङ्मय का गहन अध्ययन किया था, न महान् सन्तों की पूजा की थी, न कठिन व्रत या तपस्या ही की थी। मात्र मेरे तथा मेरे भक्तों की संगति से, उन्होंने मुझे प्राप्त किया।

तात्पर्य : जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, वैदिक वाङ्मय का अध्ययन श्रुति मंत्रों की शिक्षा देने वालों की पूजा, व्रत तथा तपस्या करना इत्यादि ऐसी सहायक विधियाँ हैं, जो भगवान् को प्रसन्न करने वाली हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् पुनः बतलाते हैं कि ऐसी सारी विधियाँ भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति करने की मुख्य विधि से गौण हैं। मनुष्य अन्य विधियों से भगवान् तथा उनके भक्तों

की संगति प्राप्त कर सकता है, जिससे जीवन की सिद्धि मिल सकती है। मत्-संगात् शब्द को सत्-संगात् भी पढ़ा जा सकता है, जिसका भी वही अर्थ निकलता है। मत्-संगात् पाठ में मत् से यह भी अर्थ निकलता है “जो मेरे हैं” अर्थात् भक्त। श्रील श्रीधर स्वामी उल्लेख करते हैं कि शुद्ध भक्त अपनी ही संगति से कृष्णभावनामृत में प्रगति कर सकता है, क्योंकि अपने कार्यों तथा चेतना से संगति करने से ही वह भगवान् से संगति करता है।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।

येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केवलेन—शुद्ध; हि—निस्सन्देह; भावेन—प्रेम से; गोप्यः—गोपियाँ; गावः—वृन्दावन की गाएँ; नगाः—वृन्दावन के जड़ प्राणी यथा यमलार्जुन वृक्ष; मृगाः—अन्य पशु; ये—जो; अन्ये—अन्य; मूढ-धियः—जड़ बुद्धि वाले; नागाः—वृन्दावन के सर्प, यथा कालिय; सिद्धाः—जीवन की सिद्धि पाकर; माम्—मेरे पास; ईयुः—आये; अञ्जसा—अत्यन्त सरलता से।

गोपियों समेत वृन्दावन के वासी, गौवें, अचर जीव यथा यमलार्जुन वृक्ष, पशु, जड़ बुद्धि वाले जीव यथा झाड़ियाँ तथा जंगल और सर्प यथा कालिय—इन सबों ने मुझसे शुद्ध प्रेम करने के ही कारण जीवन की सिद्धि प्राप्त की और इस तरह आसानी से मुझे प्राप्त किया।

तात्पर्य : यद्यपि असंख्य जीवों ने भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति से मोक्ष प्राप्त किया, किन्तु ऐसे अनेक पुरुषों ने तपस्या, दान, चिन्तन इत्यादि जैसी अन्य विधियाँ भी अपनाईं। किन्तु जैसाकि हम कह चुके हैं, ये विधियाँ गौण हैं। किन्तु वृन्दावन के वासी यथा गोपियाँ कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानती थीं और उनके जीवन का सारा उद्देश्य कृष्ण से प्रेम करना था, जैसाकि केवलेन हि भावेन शब्दों से सूचित होता है। यहाँ तक कि वृक्ष, झाड़ियाँ तथा गोवर्धन पर्वत भगवान् कृष्ण से प्रेम करते थे। भगवान् श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध (१०.१५.५) में अपने भाई श्री बलदेव को बतलाते हैं—

अहो अमी देववरामरार्चितं पदाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।

नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस् तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥

“हे बलदेव! देखो न! ये वृक्ष किस तरह अपनी शाखाएँ झुकाकर आपके उन चरणकमलों को नमस्कार कर रहे हैं, जो देवताओं द्वारा भी पूज्य हैं। हे भ्राता! आप परमेश्वर हैं, इसीलिए इन वृक्षों ने आपकी भेंटस्वरूप फलों तथा फूलों को उत्पन्न किया है। यद्यपि जीव तमोगुण के कारण वृक्ष के रूप में

जन्म लेता हैं, किन्तु वृन्दावन में इस तरह जन्म लेकर, ये वृक्ष आपके चरणकमलों की सेवा करके अपने जीवन का सारा अंधकार नष्ट कर रहे हैं।”

यद्यपि अनेक जीवों ने अनेक प्रकार से भगवान् तथा उनके भक्तों की संगति के द्वारा भगवान् कृष्ण की कृपा प्राप्त की है, किन्तु जो भगवान् कृष्ण को सर्वस्व मानते हैं, वे आध्यात्मिक साक्षात्कार की सर्वोच्च विधि को प्राप्त होते हैं। इसलिए भगवान् ने इस श्लोक में मिश्र विधियों से सिद्धि पाने वालों की चर्चा न करके वृन्दावन के शुद्ध भक्तों की प्रशंसा की है, जिनमें गोपियाँ सर्वप्रमुख हैं, जो कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ जानती ही नहीं। वृन्दावनवासी कृष्ण के साथ अपने सम्बन्धों से इतने सन्तुष्ट रहते थे कि उन्होंने मनोधर्म या सकाम कर्म द्वारा अपनी प्रेमाभक्ति को दूषित नहीं होने दिया। गोपियों ने भगवान् कृष्ण की सेवा माधुर्य रस में की, जबकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार गौवों ने वात्सल्य रस में कृष्ण से प्रेम किया, क्योंकि गौवें बालक कृष्ण के लिए सदैव दूध देती थीं। गोवर्धन पर्वत तथा अन्य पर्वत जैसे जड़ पदार्थ कृष्ण से सखा के रूप में प्रेम करते थे और वृन्दावन के सामान्य पशु, वृक्ष तथा झाड़ियाँ कृष्ण से दास्यरस में प्रेम करते थे। कालिय जैसे सर्प भी इसी रस में प्रेम करते थे, इन सबों ने भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति का आस्वाद करने के पश्चात् भगवद्धाम प्राप्त किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार वृन्दावन के इन सारे वासियों को नित्य मुक्तात्माएँ मानना चाहिए जैसाकि सिद्धा शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है।

यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।

व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिनको; न—नहीं; योगेन—योग द्वारा; साङ्ख्येन—दार्शनिक चिन्तन द्वारा; दान—दान; व्रत—व्रत; तपः—तपस्या; अध्वरैः—अथवा वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा; व्याख्या—अन्यों से वैदिक ज्ञान की विवेचना द्वारा; स्वाध्याय—वेदों का निजी अध्ययन; सन्न्यासैः—अथवा संन्यास ग्रहण करके; प्राप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है; यत्न-वान्—महान् प्रयास से; अपि—भी।

योग, चिन्तन, दान, व्रत, तपस्या, कर्मकाण्ड, अन्यों को वैदिक मंत्रों की शिक्षा, वेदों का निजी अध्ययन या संन्यास में बड़े-बड़े प्रयास करते हुए लगे रहने पर भी मनुष्य, मुझे प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि कोई परम सत्य तक पहुँचने के लिए कितना ही गम्भीर प्रयास क्यों न करें, भगवान् की संगति प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है। वृन्दावनवासी यथा

गोपियाँ तथा गौवें भगवान् कृष्ण के साथ सदैव रहती थीं, अतएव उनकी संगति *सत्संग* कहलाती है। जो कोई भगवान् के साथ ठीक से रहता है, वह *सत्* अर्थात् नित्य बन जाता है, अतएव ऐसे व्यक्ति की संगति अन्य लोगों को तुरन्त ही भक्ति प्रदान कर सकती है। *चान्द्रायण* नामक तप में चन्द्रमा के घटने के साथ भोजन की मात्रा प्रतिदिन एक एक कौर घटाई जाती है और चन्द्रमा के बढ़ने के साथ प्रतिदिन एक एक कौर बढ़ाई जाती है। इसी तरह अनेक कष्टप्रद कर्मकाण्ड हैं और संस्कृत के कठिन वैदिक मंत्र हैं, जो अन्यों को सिखलाये जा सकते हैं। ये कठिन कार्य तब तक जीवन की परम सिद्धि नहीं प्रदान कर सकते जब तक उसे भगवद्भक्तों की अहैतुकी कृपा प्राप्त न हो। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२-८) में कहा गया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

“अपने पद के अनुसार व्यक्ति द्वारा किये गये वृत्तिपरक कार्य यदि भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पात तो ये व्यर्थ के श्रम होते।”

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते

श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।

विगाढभावेन न मे वियोग

तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥ १० ॥

शब्दार्थ

रामेण—बलराम के; सार्धम्—साथ; मथुराम्—मथुरा नगरी के; प्रणीते—लाये गये; श्वाफल्किना—अकूर द्वारा; मयि—मुझमें; अनुरक्त—निरन्तर लिप्त; चित्ताः—चेतना वाले; विगाढ—प्रगाढ़; भावेन—प्रेम से; न—नहीं; मे—मेरी अपेक्षा; वियोग—विछोह का; तीव्र—गहन; आधयः—मानसिक कष्ट, चिन्ता आदि का अनुभव करने वाले; अन्यम्—अन्यों को; ददृशुः—देखा; सुखाय—उन्हें सुखी बनाने के लिए।

गोपियाँ इत्यादि वृन्दावनवासी गहन प्रेम से सदैव मुझमें अनुरक्त थे। अतएव जब मेरे चाचा अकूर मेरे भ्राता बलराम सहित मुझे मथुरा नगरी में ले आये, तो वृन्दावनवासियों को मेरे विछोह के कारण अत्यन्त मानसिक कष्ट हुआ और उन्हें सुख का कोई अन्य साधन प्राप्त नहीं हो पाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में वृन्दावन की गोपियों के मनोभावों का विशेष रूप से वर्णन हुआ है और यहाँ पर कृष्ण उनके द्वारा अनुभव किये जाने वाले अद्वितीय प्रेम को प्रकट करते हैं। जैसाकि दसवें स्कन्ध में बतलाया गया है कंस द्वारा भेजे गये भगवान् कृष्ण के चाचा अकूर वृन्दावन आये और कुशती

दिखलाने के लिए कृष्ण तथा बलराम को मथुरा ले आये। गोपियाँ कृष्ण को इतना चाहती थीं कि उनकी अनुपस्थिति में उनकी चेतना उनके आध्यात्मिक प्रेम में पूर्णतया लीन हो गई। इस तरह उनकी कृष्ण-चेतना जीवन की चरम सिद्धावस्था मानी जाती है। वे सदैव आशान्वित रहीं कि भगवान् कृष्ण असुरों को मारने का कार्य पूरा करके उनके पास लौट आयेंगे, अतएव उनकी चिन्ता उनके प्रेम की अत्यन्त हृदय विदारक अभिव्यक्ति थी। असली सुख चाहने वाले व्यक्ति को भगवान् के आनन्द के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करते हुए गोपियों की तरह कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए।

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।

क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां

हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताः ताः—वे सभी; क्षपाः—रातें; प्रेष्ठ-तमेन—अत्यन्त प्रिय के साथ; नीताः—बिताई गई; मया—मेरे द्वारा; एव—निस्सन्देह; वृन्दावन—वृन्दावन में; गो-चरेण—जिसे जाना जा सकता है; क्षण—एक पल; अर्ध-वत्—आधे के समान; ताः—वे रातें; पुनः—फिर; अङ्ग—हे उद्धव; तासाम्—गोपियों के लिए; हीनाः—रहित; मया—मुझसे; कल्प—ब्रह्मा का दिन (४,३२,००,००,०००); समाः—तुल्य; बभूवुः—हो गया।

हे उद्धव, वे सारी रातें, जो वृन्दावन भूमि में गोपियों ने अपने अत्यन्त प्रियतम मेरे साथ बिताई, वे एक क्षण से भी कम में बीतती प्रतीत हुईं। किन्तु मेरी संगति के बिना बीती वे रातें गोपियों को ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य लम्बी खिंचती सी प्रतीत हुईं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टीका इस प्रकार है : कृष्ण की अनुपस्थिति में गोपियों को अत्यन्त चिन्ता हुई। ऊपर से अन्यन्त मोहग्रस्त प्रतीत होती हुई उन्होंने वास्तव में समाधि की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त कर ली थी। उनकी चेतना भगवान् कृष्ण में प्रगाढ़ता से अनुरक्त थी और ऐसी कृष्ण-चेतना में उनके शरीर उनसे बहुत दूर लगते थे, यद्यपि लोग शरीर को अपने सबसे निकट पाते हैं। वस्तुतः गोपियाँ अपने अस्तित्व के बारे में नहीं सोचती थीं। यद्यपि साधारणतया एक युवती अपने पति तथा अपनी सन्तान को अपनी सबसे प्रिय पूँजी मानती है, किन्तु गोपियाँ अपने तथाकथित परिवारों के अस्तित्व को भी नहीं मानती थीं। न ही वे इस संसार के बारे में, अथवा मृत्यु के बाद के जीवन के विषय में सोच पाती थीं। दरअसल, उन्हें इन बातों का बिल्कुल ध्यान नहीं था। जिस तरह ऋषि मुनि सांसारिक नाम तथा रूप से विरक्त हो जाते हैं, गोपियाँ भी किसी वस्तु के बारे में नहीं सोच पाती थीं,

क्योंकि वे कृष्ण की प्रेममयी स्मृति से अभिभूत रहती थीं। जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, उसी तरह गोपियाँ अपने गहन प्रेम से कृष्ण-चेतना में पूर्णतया विलीन थीं।”

इस तरह कृष्ण के उनके साथ रहने पर गोपियों को ब्रह्मा का एक दिन एक क्षण के तुल्य लगता था, किन्तु कृष्ण की अनुपस्थिति में एक क्षण ब्रह्मा के एक दिन जैसा प्रतीत होने लगा। गोपियों की कृष्ण-चेतना आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि है और यहाँ पर ऐसी सिद्धि के लक्षणों का वर्णन हुआ है।

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध

धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।

यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये

नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे (गोपियाँ); न—नहीं; अविदन्—अवगत; मयि—मुझमें; अनुषङ्ग—घनिष्ठ सम्पर्क द्वारा; बद्ध—बँधी; धियः—चेतना वाली; स्वम्—निजी; आत्मानम्—शरीर या आत्मा; अदः—दूर की वस्तु; तथा—इस तरह विचार करते हुए; इदम्—अत्यन्त निकट यह; यथा—जिस तरह; समाधौ—योग समाधि में; मुनयः—मुनिगण; अब्धि—सागर के; तोये—जल में; नद्यः—नदियाँ; प्रविष्टाः—प्रवेश करके; इव—सदृश; नाम—नाम; रूपे—तथा रूप।

हे उद्भव, जिस तरह योग समाधि में मुनिगण आत्म-साक्षात्कार में लीन रहते हैं और उन्हें भौतिक नामों तथा रूपों का भान नहीं रहता और जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी तरह वृन्दावन की गोपियाँ अपने मन में मुझसे इतनी अनुरक्त थीं कि उन्हें अपने शरीर की अथवा इस जगत की या अपने भावी जीवनो की सुध-बुध नहीं रह गई थी। उनकी सम्पूर्ण चेतना मुझमें बँधी हुई थी।

तात्पर्य : स्वम् आत्मानम् अदस्तथेदम् से यह सूचित होता है कि जहाँ सामान्य लोगों को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय लगता है, वहाँ गोपियाँ अपने शरीर को अत्यन्त दूर मानती थीं, जिस तरह समाधिस्थ योगी अपने शरीर को या उसके चारों ओर की सामान्य वस्तुओं को अपने से बहुत दूर मानता है। जब रात गये कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाते, तो गोपियाँ अपने तथाकथित पतियों तथा बच्चों के बारे में सबकुछ भूल कर कृष्ण के साथ जंगल में नृत्य करने चली जाती थीं। इन विवादास्पद बातों की स्पष्ट व्याख्या भगवान् कृष्ण नामक पुस्तक में श्रील प्रभुपाद ने की है। मुख्य विवेचना यह है कि भगवान् कृष्ण हर वस्तु के स्रोत हैं और गोपियाँ भगवान् की निजी शक्ति हैं। इस तरह अपनी ही प्रकट शक्तिरूपा गोपियों

के साथ परम शक्तिशाली भगवान् का प्रेमाचार न तो कोई त्रुटि है, न अनैतिकता है, क्योंकि गोपियाँ ईश्वर की सृष्टि में सर्वाधिक सुन्दर तरुणियाँ हैं।

गोपियों को तनिक भी मोह नहीं है, क्योंकि कृष्ण के प्रति वे इतनी आकृष्ट हैं कि वे किसी चीज के बारे में सोचने की परवाह नहीं करतीं। चूँकि सारा जगत भगवान् कृष्ण के शरीर के भीतर स्थित है, अतएव जब गोपियाँ कृष्ण पर ध्यान एकाग्र करती हैं, तो उनको कोई क्षति नहीं होती। प्रगाढ़ प्रेम का स्वभाव है कि प्रिय के अतिरिक्त अन्य सारी वस्तुओं का बहिष्कार कर दिया जाता है। किन्तु भौतिक जगत में, जहाँ हम अपने राष्ट्र, परिवार या शरीर जैसी सीमित नश्वर वस्तु से प्रेम करना चाहते हैं, तो अन्य वस्तुओं के बहिष्कार का अर्थ अज्ञान होता है। किन्तु जब हमारा प्रेम हर वस्तु के उद्गम भगवान् पर केन्द्रित होता है, तो ऐसी एकाग्रता को अज्ञान या अल्पज्ञता नहीं माना जा सकता।

यहाँ पर समाधि प्राप्त मुनियों का उदाहरण यह दिखलाने के लिए दिया गया है कि एक ही वस्तु पर एकाग्रता है। अन्यथा गोपियों के भावमय प्रेम तथा योगियों के शुष्क चिन्तन की कोई तुलना नहीं है, क्योंकि योगी केवल यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने भौतिक शरीर नहीं हैं। चूँकि गोपियों के कोई भौतिक शरीर नहीं थे जिनसे विरक्त हुआ जाय और वे परम सत्य के साथ नाच रही थीं तथा आलिंगन कर रही थीं, अतएव गोपियों के उच्च पद की तुलना योगियों मात्र के पद से नहीं की जा सकती। यह कहा जाता है कि निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति के आनन्द की तुलना कृष्ण-प्रेम के आनन्दमय सागर के एक क्षुद्र अंश से भी नहीं की जा सकती। घनिष्ठ अनुरक्ति उस मजबूत रस्सी की तरह है, जो मन तथा हृदय को बाँधती है। हम भौतिक जीवन में नश्वर तथा मोहमय वस्तुओं से बँधे होते हैं, अतएव हृदय का ऐसा बन्धन महान् पीड़ा उत्पन्न करता है। किन्तु यदि हम अपने मन तथा हृदय को समस्त आनन्द तथा सौन्दर्य के आगार भगवान् कृष्ण से बाँध देते हैं, तो हमारे हृदय दिव्य आनन्द के सागर में असीम विस्तार करते हैं।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि गोपियाँ किसी भी तरह से निर्विशेष ध्यान के प्रति उन्मुख नहीं थीं, जिसमें विविधतामय सृष्टि की सत्यता से इनकार किया जाता है। गोपियों ने किसी वस्तु से इनकार नहीं किया। उन्हें केवल कृष्ण से प्रेम था। वे अन्य कुछ भी नहीं सोच सकती थीं। उन्होंने भगवान् कृष्ण के ध्यान में बाधक हर वस्तु का बहिष्कार किया, यहाँ तक कि अपनी पलकों को भी कोसा जिनके

झपकने से कृष्ण क्षण-भर के लिए उनकी दृष्टि से विलग हो जाते थे। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भगवान् के सभी निष्ठावान भक्तों को चाहिए कि अपने जीवन से उस वस्तु को दूर करने का साहस जुटायें, जो भगवद्धाम की ओर बढ़ने में बाधक होती है।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।

ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गच्छतसहस्रशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

मत्—मुझ; कामा:—चाहने वाले; रमणम्—मोहक प्रेमी को; जारम्—दूसरे की पत्नी का प्रेमी; अस्वरूप-विदः—मेरे वास्तविक पद को न जानते हुए; अबलाः—स्त्रियाँ; ब्रह्म—ब्रह्म; माम्—मुझको; परमम्—परम; प्रापुः—प्राप्त किया; सङ्गत्—संगति से; शत-सहस्रशः—सैकड़ों हजारों में।

वे सैकड़ों हजारों गोपियाँ मुझे ही अपना सर्वाधिक मनोहर प्रेमी जान कर तथा इस तरह मुझे अत्यधिक चाहते हुए मेरे वास्तविक पद से अपरिचित थीं। फिर भी मुझसे घनिष्ठ संगति करके गोपियों ने मुझ परम सत्य को प्राप्त किया।

तात्पर्य : अस्वरूपविदः शब्द सूचित करता है कि सुन्दर गोपियाँ कृष्ण के माधुर्य प्रेम में इतनी अधिक लीन थीं कि वे भगवान् के रूप में उनकी असीम शक्तियों से अपरिचित थीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अस्वरूपविदः शब्द का यह अर्थ तथा इसके अतिरिक्त अन्य अर्थ भी दिये हैं। विद् का अर्थ “प्राप्त करना” भी होता है। इस तरह अस्वरूपविदः यह सूचित करता है कि भगवान् के अन्य भक्तों की तरह गोपियाँ सारूप्य मुक्ति प्राप्त करने की इच्छुक नहीं थीं। यदि गोपियों को भगवान् जैसा शारीरिक स्वरूप प्राप्त हो जाता, तो भगवान् किस तरह गोपियों के साथ नाचने और उनका आलिंगन करने की माधुर्य लीला कर पाते? चूँकि गोपियों को भगवान् की सेविकाओं के रूप में अपने स्वरूपों की अनुभूति हो चुकी थी, अतएव स्वरूप शब्द उनके ही आध्यात्मिक शरीरों को सूचित कर सकता है। इस प्रकार अस्वरूपविदः का अर्थ होगा कि गोपियों ने अपने शारीरिक सौन्दर्य के विषय में कभी नहीं सोचा, जैसाकि भौतिकतावादी करते हैं। यद्यपि गोपियाँ भगवान् की सृष्टि में सर्वाधिक सुन्दर बालाएँ हैं, किन्तु उन्होंने अपने शरीर के विषय में न सोच कर सदैव भगवान् कृष्ण के दिव्य शरीर का ध्यान किया। यद्यपि हम गोपियों के उच्च माधुर्य भावों का अनुकरण नहीं कर सकते, किन्तु हम व्यावहारिक कृष्णभावनामृत के उत्कृष्ट उदाहरण को अपना सकते हैं। उन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण की और जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
 प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ १४ ॥
 मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
 याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; त्वम्—तुम; उद्धव—हे उद्धव; उत्सृज्य—त्याग कर; चोदनाम्—वेदों के आदेशों को; प्रतिचोदनाम्—वेदांगों के आदेशों को; प्रवृत्तिम्—आदेश; च—तथा; निवृत्तिम्—निषेध; च—तथा; श्रोतव्यम्—सुनने योग्य; श्रुतम्—सुना हुआ; एव—निस्सन्देह; च—भी; माम्—मुझको; एकम्—अकेला; एव—वास्तव में; शरणम्—शरण; आत्मानम्—हृदय में परमात्मा; सर्व-देहिनाम्—समस्त बद्धजीवों का; याहि—जाओ; सर्व-आत्म-भावेन—एकान्तिक भक्ति से; मया—मेरी कृपा से; स्याः—होओ; हि—निश्चय ही; अकुतः-भयः—भय से रहित।

अतएव हे उद्धव, तुम सारे वैदिक मंत्रों तथा वेदांगों की विधियों एवं उनके सकारात्मक तथा निषेधात्मक आदेशों का परित्याग करो। जो कुछ सुना जा चुका है तथा जो सुना जाना है, उसकी परवाह न करो। केवल मेरी ही शरण ग्रहण करो, क्योंकि मैं ही समस्त बद्धात्माओं के हृदय के भीतर स्थित भगवान् हूँ। पूरे मन से मेरी शरण ग्रहण करो और मेरी कृपा से तुम समस्त भय से मुक्त हो जाओ।

तात्पर्य : श्री उद्धव ने भगवान् कृष्ण से सन्त-पुरुषों तथा मुक्तात्माओं के लक्षण पूछे थे और कृष्ण ने आध्यात्मिक उन्नति के विभिन्न स्तरों के रूप में उनका उत्तर दिया। उन्होंने अपने उत्तर में बताया कि जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझ सकते हैं और जो प्रिय भक्त भगवान् कृष्ण को और उनकी भक्ति को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं, उन दोनों में क्या अन्तर है। भगवान् कृष्ण ने यह भी बताया कि वे अपने प्रिय भक्तों के द्वारा तथा उन भक्तों की संगति करने वालों के द्वारा भी बन्दी बना लिये जाते हैं। भक्तों में से वृन्दावन की गोपियों को ऐसी शुद्ध भक्ति की अवस्था प्राप्त किये हुए बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं अपने को निरन्तर उनका ऋणी अनुभव करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण ने पहले अपने प्रति गोपियों के प्रेम को रहस्यमय होने के कारण तथा अपने गुरुत्व के कारण अपने हृदय में छिपा रखा। किन्तु अन्त में भगवान् कृष्ण भी गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम के प्रति मौन नहीं रह पाये, अतएव इन श्लोकों में उद्धव से भगवान् प्रकट करते हैं कि किस तरह गोपियाँ वृन्दावन में उनसे प्रेम करती थीं और किस तरह उन्हें पूर्णतया

अपने वश में कर लिया था। भगवान् सुन्दर गोपियों के साथ गुप्त स्थानों में विहार करते और माधुर्य रागानुग स्नेह के कारण उनमें महान् प्रेम का आदान-प्रदान होता।

जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में बतलाया है, मनुष्य भौतिक जगत का परित्याग करके अथवा सामान्य धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करके जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य को वास्तविक रूप में भगवान् के स्वरूप को समझना चाहिए और उनके शुद्ध भक्तों की संगति में रह कर भगवान् को उनके आदि साकार रूप से प्रेम करना सीखना चाहिए। यह प्रेम माधुर्य, वात्सल्य, सख्य या दास्य रस में व्यक्त किया जा सकता है। भगवान् ने उद्धव को विस्तार से भौतिक जगत की दार्शनिक विश्लेषण पद्धति बतलाई और अब वे उद्धव से कहते हैं कि सकाम कर्म या मनोधर्म में समय नष्ट करना व्यर्थ है। वस्तुतः कृष्ण उद्धव को बता रहे हैं कि वे गोपियों के उदाहरण को आत्मसात् करें और व्रज की गोपियों के पदचिह्नों पर चलते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति करें। प्रकृति के क्रूर नियम जो व्याधि, जरा तथा मृत्यु थोपते हैं, इनसे असन्तुष्ट किसी भी बद्धजीव को यह समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सारे जीवों को संसार की समस्याओं से उबार सकते हैं। उसे अवैध साम्प्रदायिक अनुष्ठानों, आदेशों या निषेधों में फँसने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें साक्षात् भगवान् कृष्ण-रूप श्री चैतन्य महाप्रभु की तरह भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। वैध भक्तियोग विधि के द्वारा मनुष्य को सरलता से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

श्रीउद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।

न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; संशयः—सन्देह; शृण्वतः—सुनने वाले का; वाचम्—शब्द; तव—तुम्हारे; योग-ईश्वर—योगशक्ति के स्वामियों के; ईश्वर—स्वामी; न निवर्तते—बाहर नहीं जायेगा; आत्म—हृदय में; स्थः—स्थित; येन—जिससे; भ्राम्यति—मोहग्रस्त रहता है; मे—मेरा; मनः—मन।

श्री उद्धव ने कहा : हे योगेश्वरों के ईश्वर, मैंने आपके वचन सुने हैं, किन्तु मेरे मन का सन्देह जा नहीं रहा है, अतः मेरा मन मोहग्रस्त है।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के दसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् ने यह कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि उनकी शरण ग्रहण करके निष्काम भाव से वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत अपने कर्तव्य करे।

उद्धव ने इस कथन का अर्थ यह लगाया कि *कर्म-मिश्र भक्ति* अर्थात् सकाम कर्मों की प्रवृत्ति के साथ भक्ति की संस्तुति की गई है। यह तथ्य है कि जब तक कृष्ण को सर्वस्व नहीं समझ लिया जाता, तब तक सामान्य संसारी कर्तव्यों से विरक्त हो पाना सम्भव नहीं है। हाँ, इससे अपने कर्मफल भगवान् को अर्पित करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। दसवें अध्याय के चौथे श्लोक में भगवान् ने संस्तुति की थी कि मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों से विरक्त होकर भगवान् के परम ज्ञान का विधिवत् अनुशीलन करना चाहिए। उद्धव ने इस उपदेश से यह समझा कि यह *ज्ञान-मिश्र भक्ति* को सूचित करने वाला है। दसवें अध्याय के ३५वें श्लोक से शुरू करके उद्धव ने भौतिक बन्धन तथा भौतिक जीवन से मोक्ष के विषय में जिज्ञासा की। भगवान् ने यह कहते हुए विस्तृत उत्तर दिया कि भक्ति के बिना दार्शनिक चिन्तन कभी पूर्ण नहीं हो सकता। ग्यारहवें अध्याय के श्लोक १८ में भगवान् पर श्रद्धा के महत्त्व को और श्लोक २३ में भक्ति की विस्तृत व्याख्या करते हुए इस पर बल दिया गया है कि मनुष्य को श्रद्धावान् होना चाहिए और भगवान् की महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करना चाहिए। भगवान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भक्ति का विकास तथा भक्ति की पूर्णता भक्तों की संगति पर निर्भर करती है। ग्यारहवें अध्याय के २६वें श्लोक में उद्धव ने भक्ति के वास्तविक साधनों के विषय में तथा भक्ति की सिद्धि के लक्षणों के विषय में पूछताछ की। श्लोक ४८ में भगवान् कृष्ण ने यह कहा कि भक्ति ग्रहण किये बिना मोक्ष का प्रयास व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि भगवद्भक्तों की संगति करे और उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन करे। अन्त में इस अध्याय के १४वें श्लोक में भगवान् ने सकाम कर्म तथा मनोकल्पना का स्पष्ट तिरस्कार किया है और श्लोक १५ में यह संस्तुति की है कि अपने हृदय से उनकी शरण ग्रहण करे।

जीवन-सिद्धि के विषय में ऐसे विस्तृत तथा शास्त्रीय उपदेश पाकर उद्धव मोहग्रस्त हो गये हैं और उनका मन संशयग्रस्त है कि वे क्या करें। भगवान् कृष्ण ने कई विधियाँ तथा उनके फल बतलाये हैं, जो एक ही लक्ष्य भगवान् कृष्ण तक ले जाने वाले हैं। इसलिए उद्धव चाहते हैं कि भगवान् कृष्ण साफ-साफ शब्दों में बतलायें कि क्या किया जाना चाहिए। अर्जुन ने *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् से ऐसा ही अनुरोध किया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव यहाँ यह कह रहे हैं कि “हे मित्र कृष्ण! पहले तो आपने वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत मुझसे सांसारिक कर्म

करने के लिए संस्तुति की और उसके बाद यह सलाह दी कि मैं ऐसे कर्मों का बहिष्कार करके ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करूँ। अब ज्ञान के मार्ग का बहिष्कार करके मुझे भक्तियोग में अपनी शरण में आने की संस्तुति कर रहे हैं। यदि मैं आपके निर्णय को मान लूँ, तो भविष्य में आप फिर से अपने पहले तथ्य पर आकर सांसारिक कर्म करने की संस्तुति कर सकते हैं। अपने मन की बात को प्रकट करने की अपनी निर्भीकता द्वारा उद्धव भगवान् कृष्ण से अपनी घनिष्ठ मित्रता प्रकट करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः

प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।

मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं

मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सः एषः—साक्षात् वे; जीवः—सभी को जीवन देने वाले, भगवान्; विवर—हृदय के भीतर; प्रसूतिः—प्रकट; प्राणेन—प्राण के साथ; घोषेण—ध्वनि की सूक्ष्म अभिव्यक्ति द्वारा; गुहाम्—हृदय में; प्रविष्टः—प्रविष्ट हुए; मनः-मयम्—मन से अनुभव किये जाने वाले अथवा शिव जैसे महान् देवताओं के भी मन को वश में करते हुए; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; उपेत्य—स्थित होकर; रूपम्—स्वरूप; मात्रा—विभिन्न मात्राएँ; स्वरः—विभिन्न स्वर; वर्णः—अक्षर की विभिन्न ध्वनियाँ; इति—इस प्रकार; स्थविष्ठः—स्थूल रूप।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, भगवान् हर एक को जीवन प्रदान करते हैं और प्राण-वायु तथा आदि ध्वनि (नाद) के सहित हृदय के भीतर स्थित हैं। भगवान् को उनके सूक्ष्म रूप में हृदय के भीतर मन के द्वारा देखा जा सकता है, क्योंकि भगवान् हर एक के मन को वश में रखते हैं, चाहे वह शिवजी जैसा महान् देवता ही क्यों न हो। भगवान् वेदों की ध्वनियों के रूप में जो ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों तथा विभिन्न स्वरविन्यास वाले व्यंजनों से बनी होती हैं स्थूल रूप धारण करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कृष्ण तथा उद्धव के मध्य हुई वार्ता पर अपनी टीका इस प्रकार दी है। उद्धव संशयग्रस्त तथा मोहग्रस्त थे, क्योंकि कृष्ण ने भक्ति, ज्ञान, त्याग, योग, तपस्या, पुण्यकर्म आदि विभिन्न विधियाँ बतलाई थीं। किन्तु ये सारी विधियाँ जीवों को भगवान् कृष्ण की शरण प्राप्त करने में सहायता प्रदान करने के निमित्त हैं। अन्ततः किसी वैदिक विधि को अन्य किसी प्रकार से नहीं समझना चाहिए। इस तरह कृष्ण ने सम्पूर्ण वैदिक प्रणाली को उचित क्रम में रखते हुए बतलाया। वस्तुतः कृष्ण को आश्चर्य हो रहा था कि उद्धव मूर्खतापूर्ण क्योंकर सोचते हैं कि उन्हें हर

विधि का अभ्यास करना चाहिए जैसे कि हर विधि उन्हीं के निमित्त है ? इसलिए भगवान् कृष्ण अपने भक्त को बताना चाहते हैं, “हे उद्धव ! जब मैंने तुमसे यह कहा था कि सांख्य का अभ्यास किया जाय, पुण्यकर्म किये जाय, भक्ति आवश्यक है, योग-विधियों का पालन हो, तपस्या की जाय, तो मैं तुम्हारे माध्यम से सारे जीवों को उपदेश दे रहा था। मैं जो कह चुका हूँ, जो कह रहा हूँ और जो कुछ कहूँगा वह विभिन्न पदों पर स्थित सारे जीवों के लिए मार्गदर्शन के रूप में समझा जाना चाहिए। तुम यह कैसे सोच सकते हो कि तुम्हीं समस्त वैदिक विधियों का अभ्यास करने के लिए हो ? जिस रूप में अभी तुम हो उसी रूप में मैं तुम्हें अपना शुद्ध भक्त मान रहा हूँ। तुम इन सारी विधियों को सम्पन्न करने के लिए नहीं हो।” इस तरह श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् कृष्ण मृदु तथा उत्साहप्रद शब्दों से वैदिक विधियों की विविधता के पीछे छिपे गूढार्थ को उद्धव को प्रकट करते हैं।

भगवान् कृष्ण ब्रह्मा के मुख से वेदों के रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक का *विवर-प्रसूति* शब्द यह भी सूचित करता है कि ब्रह्माजी के शरीर के भीतर स्थित *आधारादिचक्र* के भीतर प्रकट होते हैं। *घोषेण* शब्द का अर्थ है “सूक्ष्म ध्वनि” और *गुहां प्रविष्टः* शब्द भी सूचित करता है कि भगवान् आधारचक्र के भीतर प्रविष्ट होते हैं। भगवान् अन्य चक्रों के भीतर भी, यथा *मणिपूरक चक्र* तथा *विशुद्धि चक्र* में भी देखे जा सकते हैं। संस्कृत अक्षर दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों तथा उदात्त और अनुदात्त व्यञ्जनों से बने हैं। वैदिक ग्रंथों की विविध शाखाओं में इन ध्वनियों से भगवान् का स्थूल रूप प्रकट किया जाता है। *भगवद्गीता* के अनुसार ऐसे ग्रंथों में तीन गुणों का वर्णन मिलता है— *त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।* श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि माया के नियंत्रण के कारण भगवान् बद्धात्मा को ब्रह्माण्ड के अंशरूप में प्रतीत होते हैं। भगवान् पर काल्पनिक स्थूल तथा सूक्ष्म गुणों का आरोप *अविद्या* कहलाता है और ऐसी अविद्या से जीव अपने को अपने कर्मों का कर्ता मानने लगता है तथा कर्म-बन्धन में बँध जाता है। इसलिए बद्ध आत्मा को शुद्ध करने के लिए वेदों में *प्रवृत्ति मार्ग* तथा निवृत्ति का आदेश है। जब मनुष्य शुद्ध हो जाता है, तो वह सकाम कर्म की इस अवस्था का परित्याग कर देता है, क्योंकि शुद्ध भक्ति सम्पन्न करने में यह बाधक है। तब वह अचल श्रद्धा द्वारा भगवान् की पूजा कर सकता है। जिसने पूर्ण कृष्णभावनामृत विकसित कर लिया है, वह कर्मकाण्ड में प्रवृत्त नहीं होता। जैसा *भगवद्गीता* में कहा गया है— *तस्य कार्यं न विद्यते।*

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक को दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। जीव शब्द भगवान् कृष्ण का द्योतक है, जो वृन्दावनवासियों को जीवन प्रदान करने वाले हैं। विवर-प्रसूति बताता है कि यद्यपि भगवान् अपनी लीलाएँ बद्धजीवों की दृष्टि से परे वैकुण्ठ-लोक में नित्य करते रहते हैं, किन्तु इन्हीं लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए वे भौतिक जगत में भी प्रविष्ट होते हैं। गुहां प्रविष्टः यह सूचित करता है कि ऐसी लीलाएँ प्रदर्शित करके भगवान् उन्हें समेट लेते हैं और ऐसी अप्रकट लीलाओं में प्रवेश करते हैं, जो बद्धजीवों के लिए प्रकट नहीं हैं। इस प्रसंग में मात्रा शब्द भगवान् की दिव्य इन्द्रियों का सूचक है और स्वर भगवान् की दिव्य ध्वनि तथा गायन का सूचक है। वर्ण भगवान् के दिव्य रूप का सूचक है। स्थविष्टः शब्द यह बतलाता है कि इस जगत में भगवान् उन भक्तों के लिए भी प्रकट होते हैं, जो कृष्णभावनामृत में बड़े-चढ़े नहीं हैं और जिनकी दृष्टि पूरी तरह से शुद्ध नहीं हुई है। मनोमय बताता है कि भगवान् को जिस-तिस भाँति मन में रखना होता है। अभक्तों के लिए भगवान् कृष्ण सूक्ष्म हैं, क्योंकि उन्हें जाना नहीं जा सकता। इस तरह विभिन्न आचार्यों ने इस श्लोक की दिव्य ध्वनि के माध्यम से भगवान् कृष्ण की महिमा भिन्न भिन्न प्रकारों से बतलाई है।

यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा

बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।

अणुः प्रजातो हविषा समेधते

तथैव मे व्यक्त्तिरियं हि वाणी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि; खे—काठ के भीतर रिक्त स्थान में; अनिल—वायु; बन्धुः—जिसकी सहायता; उष्मा—गर्मी; बलेन—दृढ़ता से; दारुणि—काठ के भीतर; अधिमथ्यमानः—रगड़ से जलाई जाने पर; अणुः—अत्यन्त सूक्ष्म; प्रजातः—उत्पन्न होती है; हविषा—घी के साथ; समेधते—बढ़ती है; तथा—उसी तरह; एव—निस्सन्देह; मे—मेरा; व्यक्तिः—अभिव्यक्ति; इयम्—यह; हि—निश्चय ही; वाणी—वैदिक ध्वनि।

जब काठ के टुकड़ों को जोर से आपस में रगड़ा जाता है, तो वायु के सम्पर्क से उष्मा उत्पन्न होती है और अग्नि की चिनगारी प्रकट होती है। एक बार अग्नि जल जाने पर उसमें घी डालने पर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इसी प्रकार मैं वेदों की ध्वनि के कम्पन में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण वैदिक ज्ञान का परम गुह्य अर्थ बतलाते हैं। वेद सर्वप्रथम सामान्य भौतिक कर्म को नियमित करते हैं और उनके फल को अनुष्ठानिक यज्ञों की दिशा में मोड़ कर कर्ता को भावी लाभ दिलाते हैं। किन्तु इन यज्ञों का असली उद्देश्य भौतिकतावादी कर्मी द्वारा अपने कर्मफल को

श्रेष्ठ वैदिक सत्ता को अर्पित करने का अभ्यास कराना है। कुशल कर्मी धीरे-धीरे भौतिक भोग में रुचि लेना छोड़ कर स्वभावतः अपने पद पर दार्शनिक चिन्तन की उच्च अवस्था की ओर बढ़ता है। वर्धित ज्ञान से वह परम पुरुष की असीम महिमा से परिचित होता है और धीरे-धीरे दिव्य परम सत्य की भक्ति करने लगता है। भगवान् कृष्ण वैदिक ज्ञान के लक्ष्य हैं, जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* भगवान् धीरे धीरे वैदिक अनुष्ठान की सरणि में उसी तरह प्रकट होते हैं, जिस तरह काष्ठों को रगड़ने से धीरे धीरे अग्नि प्रकट होती है। *हविषा समेधते* द्वारा यह सूचित होता है कि वैदिक यज्ञ में लगातार प्रगति से धीरे धीरे आध्यात्मिक ज्ञानरूपी अग्नि जल उठती है, और हर एक को प्रकाशित करके सकाम कर्मपाश को नष्ट करती है।

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह विस्तृत दिव्य ज्ञान सुनने के लिए सर्वाधिक योग्य व्यक्ति माना है, इसीलिए भगवान् कृपा करके उद्धव को उपदेश देते हैं, जिससे वे बदरिकाश्रम के मुनियों को प्रकाशित कर सकें और उनके जीवन-उद्देश्य को पूरा कर सकें।

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो

घ्राणो रसो दृक्स्पर्शः श्रुतिश्च ।

सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः

सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गदिः—वाणी; कर्म—हाथों का कर्म; गतिः—पाँवों का कार्य; विसर्गः—जननेन्द्रिय तथा गुदा के कार्य; घ्राणः—गन्ध; रसः—स्वाद; दृक्—दृष्टि; स्पर्शः—स्पर्श; श्रुतिः—सुनना; च—भी; सङ्कल्प—मन का कार्य; विज्ञानम्—बुद्धि तथा चेतन का कार्य; अथ—साथ ही; अभिमानः—मिथ्या अहंकार का कार्य; सूत्रम्—प्रधान का कार्य; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमः—तथा तमोगुण; विकारः—रूपान्तर।

कर्मेन्द्रियों के कार्य यथा वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ एवं नाक, जीभ, आँख, त्वचा तथा कान ज्ञानेन्द्रियों के कार्य के साथ ही मन, बुद्धि, चेतना तथा अहंकार जैसी सूक्ष्म इन्द्रियों के कार्य एवं सूक्ष्म प्रधान के कार्य तथा तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया—इन सबों को मेरा भौतिक व्यक्त रूप समझना चाहिए।

तात्पर्य : गदि शब्द द्वारा भगवान् वैदिक ध्वनि के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के विषय में विवेचना समाप्त करते हैं और अन्य कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों, चेतना के सूक्ष्म कार्यों, प्रधान तथा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया का वर्णन करते हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति समूचे जगत को

भगवान् की शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। इसलिए भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई उचित स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् का अंश है और उन्हीं की है। जो व्यक्ति सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक अभिव्यक्तियों में भगवान् के अंश को समझ सकता है, वह इस जगत में रहने की इच्छा त्याग देता है। आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है। इस भौतिक जगत की एकमात्र विशेषता है कि यहाँ पर जीव अपने को स्वामी मानता है। किन्तु विवेकी व्यक्ति इस व्यामोह को त्याग कर माया के राज्य में कोई आकर्षण नहीं पाता, इसलिए वह भगवद्धाम वापस जाता है।

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिर्

अव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।

विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति

बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निश्चय ही; जीवः—परम व्यक्ति जो अन्यो को जीवन देता है; त्रि-वृत्—तीन गुणों वाला; अब्ज—ब्रह्माण्ड रूपी कमल के फूल का; योनिः—स्रोत; अव्यक्तः—अप्रकट; एकः—अकेला; वयसा—कालक्रम से; सः—वह; आद्यः—नित्य; विश्लिष्ट—विभक्त; शक्तिः—शक्तियाँ; बहुधा—अनेक विभागों में; इव—सदृश; भाति—प्रकट होता है; बीजानि—बीज; योनिम्—खेत में; प्रतिपद्य—गिर कर; यत्-वत्—जिस तरह।

जब खेत में कई बीज डाले जाते हैं, तो एक ही स्रोत मिट्टी से असंख्य वृक्ष, झाड़ियाँ, वनस्पतियाँ निकल आती हैं। इसी तरह सबों के जीवनदाता तथा नित्य भगवान् आदि रूप में विराट जगत के क्षेत्र के बाहर स्थित रहते हैं। किन्तु कालक्रम से तीनों गुणों के आश्रय तथा ब्रह्माण्ड रूप कमल-फूल के स्रोत भगवान् अपनी भौतिक शक्तियों को विभाजित करते हैं और असंख्य रूपों में प्रकट प्रतीत होते हैं, यद्यपि वे एक हैं।

तात्पर्य : श्रील वीरराघवाचार्य की टीका है कि कोई यह प्रश्न कर सकता है कि देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पौधों, ग्रहों इत्यादि से युक्त यह विराट ब्रह्माण्ड वास्तव में किसका है? अब भगवान् कृष्ण विराट ब्रह्माण्ड के स्रोत के विषय में किसी भी संशय का उच्छेदन करते हैं। त्रि-वृत् शब्द बतलाता है कि प्रकृति के तीनों गुण स्वतंत्र नहीं हैं, अपितु परम नियन्ता के अधीन हैं। वृत् प्रत्यय का अर्थ है वर्तनम्, अर्थात् भगवान् के भीतर तीनों गुणों का “अस्तित्व,” अब्ज-योनि शब्द में अब् “जल” का सूचक है और ज “जन्म” का। इस प्रकार अब्ज का अर्थ हुआ यह जटिल ब्रह्माण्ड जो गर्भोदक सागर

में शयन कर रहे गर्भोदकशायी विष्णु से फूटता है। *योनि* अर्थात् “स्रोत” सूचक है भगवान् का, अतः *अब्ज-योनि* का अर्थ यह है कि भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड के स्रोत हैं, निस्सन्देह भगवान् के भीतर ही सारी सृष्टि का जन्म होता है। चूँकि तीनों गुण भगवान् के अधीन हैं, अतएव भगवान् की इच्छानुसार इस ब्रह्माण्ड-आवरण के भीतर भौतिक वस्तुओं का सृजन तथा संहार होता रहता है। *अव्यक्त* शब्द भगवान् के सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को बतलाने वाला है, जो भौतिक सृष्टि के पूर्व अकेले विद्यमान रहता है। दिव्य होने के कारण भगवान् के आदि रूप का न तो जन्म होता है, न रूपान्तर, न मृत्यु होती है। यह शाश्वत है। कालक्रम से भगवान् की भौतिक शक्तियाँ विभक्त हो जाती हैं और शरीर, शारीरिक साज-सामग्री, इन्द्रिय-विषय, शारीरिक विस्तार, अहंकार तथा मिथ्या स्वामित्व के रूप में प्रकट होती हैं। इस तरह भगवान् अपनी *जीव शक्ति* का विस्तार करते हैं, जो मनुष्यों, देवताओं, पशुओं इत्यादि के असंख्य रूपों में प्रकट होती है। खेत में बोये गये बीजों के उदाहरण से हम यह जान सकते हैं कि एक ही स्रोत से असंख्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं। इसी तरह यद्यपि भगवान् एक हैं, किन्तु अपनी विविध शक्तियों के माध्यम से, वे असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं।

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं

पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।

य एष संसारतरुः पुराणः

कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; प्रोतम्—चौड़ाई में बुना हुआ, बाना; अशेषम्—सम्पूर्ण; ओतम्—तथा लम्बाई में, ताना; पटः—वस्त्र; यथा—जिस तरह; तन्तु—धागों का; वितान—विस्तार; संस्थः—स्थित; यः—जो; एषः—यह; संसार—भौतिक जगत रूपी; तरुः—वृक्ष; पुराणः—सनातन से विद्यमान; कर्म—सकाम कर्मों की ओर; आत्मकः—सहज भाव से उन्मुख; पुष्प—पहला परिणाम, फूल; फले—तथा फल; प्रसूते—उत्पन्न होने पर।

जिस प्रकार बुना हुआ वस्त्र ताने-बाने पर आधारित रहता है, उसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लम्बाई तथा चौड़ाई में भगवान् की शक्ति पर फैला हुआ है और उन्हीं के भीतर स्थित है। बद्धजीव पुरातन काल से भौतिक शरीर स्वीकार करता आया है और ये शरीर विशाल वृक्षों की भाँति हैं, जो अपना पालन कर रहे हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष पहले फूलता है और तब फलता है, उसी तरह भौतिक शरीर रूपी वृक्ष विविध फल देता है।

तात्पर्य : वृक्ष में फल आने के पूर्व फूल प्रकट होते हैं। इसी तरह पुष्प-फले शब्द, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, संसार के सुख-दुख को सूचित करने वाला है। भले ही मनुष्य का जीवन पुष्पित होता प्रतीत हो, किन्तु अन्ततः उसमें जरा, मृत्यु इत्यादि विपदाओं के कटु फल प्रकट होते हैं। भौतिक शरीर के प्रति अनुरक्ति, जिसकी प्रवृत्ति सदा इन्द्रियतृप्ति होती है, यही जगत का मूल कारण है, इसलिए यह संसार-तरु कहलाता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति का दोहन सनातन काल से चला आ रहा है, जैसाकि पुराणः कर्मात्मकः शब्दों से व्यक्त हुआ है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् की मायाशक्ति का विस्तार है और यह सदैव उन्हीं पर आश्रित है, तथा उनसे अभिन्न है। इस सीधे-से ज्ञान से बद्धजीव माया के दुखी संसार में अन्तहीन भ्रमण करने से बच सकता है।

पुष्प-फले का अर्थ इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष भी लगाया जा सकता है। संसार-तरु की अधिक व्याख्या अगले श्लोकों में की जायेगी।

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः

पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।

दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्

त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥ २२ ॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृधा

ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।

हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-

र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

द्वे—दो; अस्य—इस वृक्ष के; बीजे—बीज; शत—सैकड़ों; मूलः—जड़ों के; त्रि—तीन; नालः—डंठल; पञ्च—पाँच; स्कन्धः—ऊपरी तना; पञ्च—पाँच; रस—रस; प्रसूतिः—उत्पन्न करते हुए; दश—दस; एक—तथा एक; शाखः—शाखाएँ; द्वि—दो; सुपर्ण—पक्षियों के; नीडः—घोंसला; त्रि—तीन; वल्कलः—छाल; द्वि—दो; फलः—फल; अर्कम्—सूर्य; प्रविष्टः—तक फैला हुआ; अदन्ति—खाते हैं; च—भी; एकम्—एक; फलम्—फल; अस्य—इस वृक्ष का; गृधाः—भौतिक भोग के लिए कामुक; ग्रामे—गृहस्थ-जीवन में; चराः—सजीव; एकम्—दूसरा; अरण्य—जंगल में; वासाः—वास करने वाले; हंसाः—हंस जैसे व्यक्ति, साधु-पुरुष; यः—जो; एकम्—एक, परमात्मा; बहु-रूपम्—अनेक रूपों में प्रकट होकर; इज्यैः—पूज्य गुरुओं की सहायता से; माया-मयम्—भगवान् की शक्ति से उत्पन्न; वेद—जानता है; सः—ऐसा व्यक्ति; वेद—जानता है; वेदम्—वैदिक वाङ्मय के असली अर्थ को।

इस संसार रूपी वृक्ष के दो बीज, सैकड़ों जड़ें, तीन निचले तने तथा पाँच ऊपरी तने हैं। यह पाँच प्रकार के रस उत्पन्न करता है। इसमें ग्यारह शाखाएँ हैं और दो पक्षियों ने एक घोंसला बना रखा है। यह वृक्ष तीन प्रकार की छालों से ढका है। यह दो फल उत्पन्न करता है और सूर्य तक

फैला हुआ है। जो लोग कामुक हैं और गृहस्थ-जीवन में लगे हैं, वे वृक्ष के एक फल का भोग करते हैं और दूसरे फल का भोग संन्यास आश्रम के हंस सदृश व्यक्ति करते हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु की सहायता से इस वृक्ष का एक परब्रह्म की शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में अनेक रूपों में प्रकट हुआ समझ लेता है, वही वैदिक वाङ्मय के असली अर्थ को जानता है।

तात्पर्य : इस वृक्ष के दो बीज—पापमय तथा पुण्य कर्म हैं और सैकड़ों जड़ें जीवों की असंख्य भौतिक इच्छाएँ हैं, जो उन्हें भवसागर में जकड़े रखती हैं। तीन निचले तने तीन गुणों को बताते हैं और पाँच ऊपरी तने पाँच स्थूल तत्त्वों को बताते हैं। यह वृक्ष पाँच रस उत्पन्न करता है—ये हैं ध्वनि, रूप, स्पर्श, स्वाद तथा सुगंध। इसमें ग्यारह शाखाएँ हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन। दो पक्षियों ने, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा ने, इस वृक्ष में अपना घोंसला बना रखा है। तीन प्रकार की छालें हैं वात, पित्त, तथा कफ, जो शरीर के अवयव हैं। इस वृक्ष के दो फल हैं, सुख तथा दुख।

जो लोग सुन्दर स्त्रियों, धन तथा माया के विलासी पक्षों का भोग करने का प्रयास करते हैं, उन्हें दुख रूपी फल प्राप्त होता है। यह जान लेना चाहिए कि स्वर्गलोक में भी चिन्ता तथा मृत्यु हैं। जिन लोगों ने भौतिक लक्ष्यों का परित्याग कर दिया है और आध्यात्मिक प्रकाश के मार्ग पर हैं, वे सुख रूपी फल भोगते हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु की सहायता लेता है, वह यह समझ सकता है कि यह विशाल वृक्ष अद्वितीय भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समस्त वस्तुओं के कारण रूप में देख सकता है, तो उसका ज्ञान पूर्ण होता है। अन्यथा यदि वह वैदिक अनुष्ठानों में या भगवान् के ज्ञान के बिना वैदिक चिन्तन में फँस जाता है, तो उसे जीवन-सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती।

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या

विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।

विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः

सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार (मेरे द्वारा प्रदत्त ज्ञान से); गुरु—गुरु की; उपासनया—उपासना या पूजा से; एक—शुद्ध; भक्त्या—भक्ति से; विद्या—ज्ञान की; कुठारेण—कुल्हाड़ी से; शितेन—तेज; धीरः—ज्ञान के द्वारा स्थिर रहने वाला; विवृश्च्य—काट कर; जीव—जीव का; आशयम्—सूक्ष्म शरीर (तीन गुणों से उत्पन्न उपाधियों से पूर्ण); अप्रमत्तः—आध्यात्मिक जीवन में अत्यन्त

सतर्क; सम्पद्य—प्राप्त करके; च—तथा; आत्मानम्—परमात्मा को; अथ—तब; त्यज—त्याग दो; अस्त्रम्—सिद्धि प्राप्त करने के साधन को।

तुम्हें चाहिए कि तुम धीर बुद्धि से गुरु की सावधानी पूर्वक पूजा द्वारा शुद्ध भक्ति उत्पन्न करो तथा दिव्य ज्ञान रूपी तेज कुल्हाड़ी से आत्मा के सूक्ष्म भौतिक आवरण को काट दो। भगवान् का साक्षात्कार होने पर तुम उस तार्किक बुद्धि रूपी कुल्हाड़े को त्याग दो।

तात्पर्य : चूँकि उद्धव को भगवान् कृष्ण का साक्षात् सात्रिध्य प्राप्त था, अतएव उन्हें बद्धजीव जैसी मनोवृत्ति बनाये रखने की आवश्यकता नहीं थी। इस तरह जैसाकि यहाँ पर सम्पद्य चात्मानम् शब्दों द्वारा बताया गया है, उद्धव स्वयं वैकुण्ठ में भगवान् के चरणकमलों की सेवा कर सके। उद्धव ने इस विस्तृत वार्ता के प्रारम्भ में ही इस सुअवसर के लिए प्रार्थना की थी। जैसाकि गुरुपासनयैकभक्त्या द्वारा बतलाया गया है, प्रामाणिक गुरु की पूजा करके शुद्ध भक्ति प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह नहीं कहा गया है कि कोई शुद्ध भक्ति या अपने गुरु का परित्याग कर दे। प्रत्युत विद्याकुठारेण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य को इस अध्याय में कृष्ण द्वारा वर्णित भौतिक जगत का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि भौतिक सृष्टि का हर पक्ष भगवान् की मायाशक्ति का विस्तार है। ऐसा ज्ञान जगत रूपी वृक्ष की जड़ों को काटने के लिए तेज कुल्हाड़ी का काम करता है। इस तरह तीन गुणों से उत्पन्न कठोर सूक्ष्म शरीर भी खण्ड खण्ड किया जा सकता है और मनुष्य अप्रमत्त, अर्थात् कृष्णभावनामृत में विवेकी और सतर्क बन जाता है।

इस अध्याय में कृष्ण ने स्पष्ट बतलाया है कि वृन्दावन की गोपिकाएँ जीवन के प्रति वैश्लेषिक दृष्टिकोण में रुचि नहीं रखती थीं। वे तो केवल कृष्ण से प्रेम करती थीं और उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सोच सकती थीं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह शिक्षा दी है कि उनके सारे भक्त उच्च कोटि का निष्काम भगवत्प्रेम उत्पन्न करने के लिए ब्रज-बालाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करें। भगवान् कृष्ण ने भौतिक जगत के स्वभाव की विस्तृत व्याख्या इसीलिए की है, जिससे इस जगत का भोग करने का प्रयास कर रहे बद्धजीव इस ज्ञान रूपी कुल्हाड़े से संसार रूपी वृक्ष को काट सकें। सम्पद्य चात्मानम् से यह सूचित होता है कि ऐसे ज्ञान से युक्त व्यक्ति को फिर शरीर नहीं मिलता, क्योंकि उसने पहले से भगवान् को प्राप्त कर रखा है। ऐसे व्यक्ति को इस माया-सृष्टि के अपने ज्ञान को लगातार परिष्कृत करते हुए माया के राज्य में इधर-उधर विचरण नहीं करना चाहिए। जिसने कृष्ण को सर्वस्व मान लिया

है, वह भगवान् की सेवा का नित्य आनन्द भोग सकता है। इस जगत में रहते हुए भी, उसका इससे कोई नाता नहीं रहता और इसका निषेध करने की वैश्लेषिक विधियों को वह त्याग देता है। इसीलिए उद्धव से भगवान् कहते हैं, *त्यजास्त्रम्* “तुम वैश्लेषिक ज्ञान रूपी कुल्हाड़ी को त्याग दो, जिससे तुमने अपने स्वामित्व भाव तथा भौतिक जगत में निवास को काट डाला है।”

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत “वैराग्य तथा ज्ञान से आगे” नामक बारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः